समान नागरिक संहिता

सवाल और सम्भावनाएँ

नरेश गोस्वामी

भारतीय राजनीति में समान नागरिक संहिता का प्रश्न काफ़ी पहले से ज्वलंत रहा है। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मुस्लिम समुदाय में प्रचलित तीन तलाक़ की प्रथा खारिज़ किये जाने के बाद से यह प्रश्न एक बार फिर सार्वजनिक जीवन में तीखी बहसों का केंद्र बन गया है। लेकिन समान नागरिक संहिता पर चर्चा का इतिहास बताता है कि यह मुद्दा एक ख़ास तरह के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के मक़सद से उठाया जाता है और फिर चुनावी समीकरणों के हिसाब से उसका दोहन करने की चेष्टा की जाती है। बहुसंख्यकों के बीच इसे कुछ इस तरह प्रचारित किया जाता है जैसे समान नागरिक संहिता आज तक मुसलमान समुदाय के विरोध के कारण लागू नहीं की जा सकी है। कहा जाता है कि मुस्लिम समुदाय इसे अपनी धार्मिक स्वतंत्रता में दख़ल मानता है। लेकिन, हक़ीक़त इसके विपरीत है।

व्यापक परिप्रेक्ष्य में रख कर देखें तो समान नागरिक संहिता एक ऐसा मुद्दा है जो एक तरफ़ धार्मिक बहुलताओं और उनसे जुड़ी सामाजिक रीति-नीति के साथ-साथ मूल्य-मान्यताओं के दुराग्रहों, तो दूसरी तरफ़ राजनीतिक पूर्वग्रहों और कुप्रचार के बीच झूलता रहता है। परिणाम यह होता है कि हम इस विचार की सैद्धांतिक बारीकियों तथा उसके क्रियान्वयन से जुड़ी चुनौतियों या जटिलताओं की ओर एकमुश्त ध्यान नहीं दे पाते। इस प्रश्न पर चल रही बहस का सार-संकलन करते हुए यहाँ मैंने यही कोशिश की है कि समान नागरिक संहिता के विमर्श से संबंधित विभिन्न पक्षों और दलीलों को समग्र संरचना की तरह देखा जाए ताकि उसके इतिहास से गुज़रते हुए मौजूदा परिदृश्य का अवलोकन किया जा सके।

इतिहास के झरोखे में मुस्लिम विरोध की प्रति-छवि

मोटे तौर पर माना जाता है कि संविधान सभा में हंसा मेहता जैसी महिला प्रतिनिधि और भीमराव आम्बेडकर जैसी हस्तियाँ इस बात के पक्षधर थे कि राज्य को पारिवारिक क़ानूनों में सक्रिय ढंग से संशोधन करना चाहिए, जबकि मुस्लिम रूढ़िवादी सदस्यों का मानना था कि राज्य की तरफ़ से होने वाला ऐसा कोई भी हस्तक्षेप उनकी धार्मिक स्वतंत्रता पर हमला होगा। मुस्लिम लीग के सदस्यों की राय थी कि समुदाय के निजी क़ानून को प्रस्तावित नागरिक संहिता से बाहर रखा जाए। जमात-ए-हिंद ने बाक़ायदा यह माँग रखी कि भविष्य के संविधान में मुस्लिम समुदाय के क़ानूनों को सम्भावित हस्तक्षेप से मुक्त रखने के लिए कुछ विशेष प्रावधान किये जाने चाहिए। इस प्रचलित विमर्श का अगला भाग यह है कि चूँकि बहुसंख्यक-सेकुलर नेतृत्व मुसलमानों को यह भरोसा दिलाना चाहता था कि स्वतंत्र भारत में उनका जीवन हर तरह से सुरक्षित रहेगा, इसलिए समानता तथा एकरूपता के

आदर्शों को विस्मृत करते हुए समान नागरिक संहिता का प्रश्न नीति-निर्देशक सिद्धांतों के खाते में डाल दिया गया।

यह विवरण तथ्यत: ग़लत नहीं है, लेकिन इस विमर्श की मुख्य समस्या यह है कि वह एकांगी है। इस विमर्श में मुस्लिम प्रतिरोध का ज़िक्र तो बढ़-चढ़ कर किया गया है लेकिन इसमें यह तथ्य भुला दिया गया है कि नागरिक संहिता के प्रति हिंदू संगठनों का रवैया भी कम विरोधपूर्ण नहीं था। इस विमर्श में यह बात भी ग़ौरतलब है कि आज़ादी से कोई एक दशक पहले मुस्लिम क़ानून विधायी सुधारों की प्रक्रिया से गुज़र चुका था। हिंदू या ईसाई महिलाओं के विपरीत मुस्लिम क़ानून में महिलाओं को सम्पत्ति में भागीदार मान लिया गया था। मुस्लिम महिलाएँ पति से अलग होकर एक क़ानूनी हैसियत बरक़रार रख सकती थीं; वैवाहिक संबंध के समय उनकी सहमति ली जाती थी तथा तलाक़ के लिए वे स्वतंत्र रूप से अदालत का सहारा ले सकती थीं। मुस्लिम क़ानून से संबंधित ये विधायी

बदलाव इस मायने में और भी महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि राज्य की दख़लंदाज़ी के मुद्दे पर लम्बे गतिरोध के बावजूद मुस्लिम समुदाय औपनिवेशिक राज्य और क़ानून के सेकुलर ढाँचे का इस्तेमाल करता रहा और अंततः निजी क़ानूनों में बदलाव करने तक पहुँचने में कामयाब रहा था।

रोहित डे बताते हैं कि डॉ. जी.वी. देशमुख शरीयत अधिनियम, 1937 के जबर्दस्त समर्थक थे। शरीयत अधिनियम के तहत पारम्परिक क़ानून के ख़ात्मे और महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सेदारी प्रदान करने के इस उदाहरण को देशमुख भारत के हरेक समुदाय के लिए भविष्य का आवश्यक कार्यक्रम मानते थे। ग़ौरतलब है कि देशमुख ने हिंदू महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करने हेतु अनेक विधेयक तैयार किये थे। 1938 में केंद्रीय विधायिका के ऊपरी सदन (कौंसिल ऑफ़ स्टेट) के लिए निर्विवाद रूप से निर्वाचित और महिला अधिकारों की प्रबल समर्थक राधाबाई सुब्बरायण ने भी सदन के मुस्लिम सदस्यों की इस बात के लिए प्रशंसा की थी। यही नहीं, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को भी शरीयत का यह अधिनियम समान नागरिक संहिता का पर्याय लगा था। उन्हें यह एक बड़ा क़दम लगा था कि शरीयत अधिनियम के तहत मुस्लिम समुदायों की अनेक प्रथाएँ एक झटके में ख़त्म कर दी गयी थीं और इस मामले में समुदायों से कोई राय-मशविरा भी नहीं किया गया था। इस तरह देखें तो मुस्लिम क़ानून बदलाव के एक दौर से गुज़र चुका था। लेकिन, हिंदू धर्म के रूढ़िवादी तत्त्वों को महिला अधिकारों की यह सुगबुगाहट नागवार गुज़री थी।

इसके बावजूद सार्वजनिक दायरे में यह मत रूढ़ होता गया है कि समान नागरिक संहिता का क्रियान्वयन मुस्लिम प्रतिरोध के कारण स्थगित करना पड़ा। इसकी एक वजह शायद यह रही है कि समान संहिता के मुद्दे पर संविधान सभा के मुस्लिम सदस्यों का औसत तर्क यह था कि प्रस्तावित संहिता अनुच्छेद 19 के अंतर्गत प्रदत्त धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लंघन करती है। इन लोगों का यह भी कहना था कि समुदाय के निजी क़ानून उनके धर्म का अविभाज्य अंग रहे हैं, इसलिए समान नागरिक संहिता का प्रस्ताव अल्पसंख्यकों के अधिकारों और सामुदायिक सामंजस्य के लिहाज़ से नुक़सानदेह होगा।

वैभव पुरंदरे कहते हैं कि संविधान सभा में मुस्लिम सदस्यों की इन शंकाओं का शमन करने की ज़िम्मेदारी मुख्यतः अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, के.एम. मुंशी और भीमराव आम्बेडकर ने निभायी। मुंशी ने स्पष्ट किया कि अनुच्छेद-19 राज्य को सामाजिक सुधार लागू करने का अधिकार प्रदान करता है, लेकिन इसके साथ वह यह भी सुनिश्चित करता है कि धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार अक्षुण्ण रहे।

मुंशी का एक तर्क यह भी था कि मिस्र तथा तुर्की जैसे विकसित मुस्लिम देशों में अल्पसंख्यकों को अपने निजी क़ानून बरक़रार रखने की अनुमति नहीं दी गयी; युरोप में सभी सामाजिक समूहों के लिए सेकुलर क़ानून ही सर्वोपरि घोषित किया गया; यहाँ तक कि भारत में ख़ोजा और कच्छी मेमन समुदायों को उनकी इच्छा के विरुद्ध शरीयत अधिनियम का अंग बना दिया गया। मुंशी का यह तर्क भारत के एकीकरण की भावना से प्रेरित था। उनका मानना था धार्मिक मामलों को छोड़ कर लोगों का शेष जीवन ऐसे तत्त्वों पर आधारित होना चाहिए कि भारत जल्द से जल्द एक मज़बूत और एकीकृत राष्ट्र के रूप में उभर सके। वे मुस्लिम सदस्यों के इस तर्क से सहमत नहीं थे कि निजी क़ानून उनके धर्म का अविभाज्य अंग हैं। इस संदर्भ में मुंशी का मानना यह था कि सामुदायिक क़ानूनों को ब्रिटिश शासन और अदालतों ने जानबूझ कर बढ़ावा दिया है और अब हमें ऐसे क़ानूनों की गिरफ़्त से आज़ाद हो जाना चाहिए। अय्यर की दृष्टि में समान नागरिक संहिता का एजेण्डा धर्म के विरुद्ध नहीं था। उसका उद्देश्य सामाजिक बंधुत्व को बढ़ावा देना था। अय्यर का स्पष्ट मानना था कि एक देश के रूप में भारत को समुदायों की प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा नहीं बनना चाहिए।

धर्म और निजी क़ानूनों की कथित अविभाज्यता पर आम्बेडकर का दृष्टिकोण शायद सबसे

ज़्यादा आक्रामक था। उनका कहना था कि धर्म का न्यायिक अधिकार इतना व्यापक नहीं होना चाहिए कि वह जीवन के हर क्षेत्र पर हावी हो जाए और विधायिका के कामकाज में ही रोड़ा बन जाए। लेकिन धर्म के प्रति इतनी स्पष्ट राय के बावजूद आम्बेडकर मुस्लिम सदस्यों को आश्वस्त करना चाहते थे कि प्रस्तावित नागरिक संहिता किसी पर थोपी नहीं जाएगी। उन्होंने कहा था कि भविष्य में संसद नागरिक संहिता के संबंध में यह प्रावधान पारित कर सकती है कि समान नागरिक संहिता केवल उन्हीं लोगों पर लागू होगी जो ख़ुद इस आशय की घोषणा करेंगे कि वे इसका स्वेच्छा से पालन करने के लिए तैयार हैं।

बहरहाल, संविधान सभा की उपरोक्त बहस के आधार पर कोई भी यह धारणा बना सकता है कि समान नागरिक संहिता मुस्लिम विरोध के कारण ही फलीभूत नहीं हो पाई। लेकिन रोहित डे अपने विश्लेषण में इसकी एक प्रति-छवि तैयार करते हुए दिखाते हैं कि दरअसल यह एक अर्ध-सत्य है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1931 में सामाजिक-आर्थिक सुधारों का एक संवैधानिक ख़ाका पेश कर चुकी थी। इसी तरह, ऑल इण्डिया वुमॅन कॉन्फ्रेंस ने 1945 में अधिकारों और कर्तव्यों का एक चार्टर जारी किया था जिसमें पारिवारिक क़ानूनों में सुधार करने का कार्यक्रम पहले नम्बर पर रखा गया था। संविधान की रचना-प्रक्रिया के दो सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्रधार— बेनेगल नरसिंह राव और आम्बेडकर हिंदू कोड में सुधार हेतु गठित की गयी समिति में भी शामिल थे। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, हिंदू धर्म के रूढ़िवादी तत्त्व बदलाव के इस एजेण्डे से ख़ासे नाख़ुश थे। इन लोगों ने संविधान सभा को बाक़ायदा एक ज्ञापन भी सौंपा था कि राज्य को हिंदू धर्म की प्रथाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

मद्रास का एक याचिकाकर्ता तो अस्पृश्यता के उन्मूलन से इतना चिंतित था कि उसने सभा को एक पत्र ही लिख डाला। इस पत्र में कहा गया था कि अस्पृश्यता सामाजिक स्तर पर तो बुरी चीज़ है, लेकिन जन्म, मृत्यु, विवाह और माहवारी जैसे धार्मिक मामलों में अस्पृश्यता के नियमों का पालन किया जाना चाहिए। एक ऐसे ही दूसरे पत्र में संविधान के मसविदे की यह कहकर भर्त्सना की गयी थी कि वह धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में अनुचित हस्तक्षेप करता है। पत्र में एक सवालनुमा दलील देते हुए पूछा गया था कि धार्मिक सिद्धांतों से विमुख सेकुलर सरकार सामाजिक कल्याण के नाम पर धार्मिक प्रथाओं में कैसे परिवर्तन कर सकती है? इस पत्र में यह भी कहा गया था कि धार्मिक संस्थाओं में कुछ समुदायों का प्रवेश वर्जित होना चाहिए। इस क्रम में कुम्भकोणम के हिंदू महिला संघ की दलील भी कम दिलचस्प नहीं थी। संघ ने अपनी अपील में कहा था कि हिंदुओं के अनुष्ठान, विवाह व अन्य सामाजिक रीति-रिवाज धर्म और शास्त्रीय सिद्धांतों पर आधारित हैं इसलिए उनमें कोई भी बदलाव करने का अधिकार केवल धार्मिक प्रतिष्ठान के पास होना चाहिए।

इसी प्रकार, वैष्णव सिद्धांत सभा का मानना था कि एक ओर तो कांग्रेस सहिष्णुता और धार्मिक स्वतंत्रता की बात करती है लेकिन धर्म को जनकल्याण के अधीन लाकर ख़ुद असहिष्णुता का परिचय दे रही है! सभा का यह भी कहना था कि उसे अस्पृश्यता के नियमों का पालन करने की छूट मिलनी चाहिए। सभा को इस बात का भी दुख था कि संविधान सभा में रूढ़िवादी हिंदुओं को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है। ऐसे और भी अनेक प्रस्ताव थे जिनमें यह ताक़ीद की गयी थी कि हिंदू धर्म और शास्त्रों में सुधार करने के लिए सरकार को धार्मिक नेताओं से बात करनी चाहिए। ऑल इण्डिया वर्णाश्रम समाज की दलील थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शास्त्रों के अनुसार जीने का अधिकार मिलना चाहिए और इसे संविधान में मौलिक अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। संस्था के प्रस्ताव में कहा गया था कि अगर शास्त्रों का कोई प्रावधान कुछ लोगों को अनुचित लगता है तो उन्हें यह धर्म छोड़ देना चाहिए, लेकिन ऐसे मामलों में सरकार को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस संस्था का कहना था कि अगर सरकार किसी क़ानून के ज़रिये धार्मिक प्रथा में बदलाव करना

चाहती है तो उसे इस मामले में पहले धर्म के विशेषज्ञों की राय लेना चाहिए।

स्वतंत्र भारत के शुरुआती वर्षों में हिंदू क़ानून में सुधार करने का एजेण्डा लगातार व्यापक गतिरोध का शिकार रहा। सच यह है कि हिंदू कोड बिल के मुद्दे पर नेहरू सरकार को चौतरफ़ा विरोध झेलना पड़ा। आम्बेडकर हिंदू पारिवारिक क़ानून में आमूल सुधार करना चाहते थे। वे सम्पत्ति और तलाक़ जैसे मामलों में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार देना चाहते थे। लेकिन हिंदू धर्म की प्रथाओं / परम्पराओं को प्रश्नांकित करने की इस कार्रवाई का कई मोर्चे पर विरोध किया गया। इस क़दम के विरोधियों में हिंदू महासभा या पूर्वोक्त संगठन ही नहीं बल्कि राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद जैसे लोग शामिल थे। क्रिस्तॉफ़ जैफ्रलॉ के अनुसार हिंदू परम्पराओं में प्रस्तावित सुधारों से क्षुब्ध राजेंद्र प्रसाद ने इस संबंध में पटेल को एक पत्र में लिखा था कि सुधारों की यह परियोजना न केवल हिंदू प्रथाओं को बल्कि पारिवारिक ढाँचे को भी छिन्न-भिन्न कर देगी।

आम्बेडकर और नेहरू, दोनों यह मानते थे कि भारत के आधुनिकीकरण का प्रश्न हिंदू कोड बिल के भाग्य पर निर्भर करता है। नेहरू ने यह घोषणा कर डाली थी कि अगर यह विधेयक पारित नहीं किया जाता तो उनकी सरकार इस्तीफ़ा दे देगी। आम्बेडकर इस विधेयक को जल्द से जल्द संसद के सामने रखना चाहते थे। बाद में विधेयक का चौतरफ़ा विरोध देखते हुए नेहरू को यह विधेयक चार टुकड़ों में बाँटना पड़ा। यह विधेयक 17 सितम्बर, 1951 को संसद के समक्ष रखा गया। इस पर हफ़्ते भर चर्चा-परिचर्चाओं का दौर चला। अंतत: 25 सितम्बर तक विधेयक में विवाह तथा तलाक़ से संबंधित प्रावधानों में इतना फेरबदल कर दिया गया कि उनका इच्छित उद्देश्य ही ख़त्म हो गया।

इसके बाद ख़ुद नेहरू ने भी हिंदू कोड बिल की सुध नहीं ली। आम्बेडकर को इस बात का गहरा क्षोभ था कि इस मुहिम में प्रधानमंत्री नेहरू ने उनका पूरी तरह साथ नहीं दिया। नतीजतन उन्होंने नेहरू की कैबिनेट से ही इस्तीफ़ा दे दिया। असल में नेहरू को इस बात का अंदेशा था कि सदन में कांग्रेस के सांसद उनके इस विधेयक को भारी बहुमत से ख़ारिज कर देंगे। इस मामले में राजेंद्र प्रसाद का रवैया शुरू से ही अड़ियल रहा था। जैफ्रलॉ के मुताबिक़ कांग्रेस से जुड़े अधिकांश लोग भारतीय लोकतंत्र के संवैधानिक ढाँचे का तो समर्थन करते थे, परंतु उनमें सामाजिक यथास्थितिवाद को चुनौती देने का साहस नहीं था। संक्षेप में कहें तो समान नागरिक संहिता का क्रियान्वयन केवल इसलिए स्थगित नहीं किया क्योंकि राष्ट्रीय नेतृत्व मुसलमानों की भावनाओं का ख़याल रखना चाहता था। सच का दूसरा पहलू यह था कि तत्कालीन राजनीतिक नेतृत्व हिंदू समुदाय की प्रतिक्रिया से ज़्यादा भयभीत था।

कौन क्या चाहता है?

संविधान सभा के इस गलियारे से निकल कर जब हम अपने वर्तमान की सीढ़ियाँ उतरते हैं तो हमारी कई सवालों से एक साथ मुठभेड़ होती है : क्या एक बहु-धार्मिक समाज में कोई सर्वसामान्य क़ानून बनाया जा सकता है? दूसरे, क्या समान नागरिक संहिता विभिन्न समुदायों में प्रचलित सकारात्मक क़ानूनों का सतरंगा संग्रह होगी, या उसे एक सेकुलर क़ानून के रूप में अलग से गढ़ा जाएगा? तीसरे, क्या समुदाय अपने परम्परागत क़ानून छोड़ने के लिए राज़ी हो जाएँगे?

प्रश्नों की इस श्रृंखला में और भी कई प्रश्न हैं। कुछ लोगों का कहना है : सेकुलरवाद का अनिवार्य अर्थ यह होता है कि पारिवारिक क़ानूनों में धर्म की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए, लिहाज़ा एक ऐसी सर्वव्यापक संहिता तैयार की जाए जिसे सभी भारतीय नागरिकों पर समान रूप से लागू किया जा सके। इस क्रम में तीसरा मत यह कहता है कि स्त्रियों के मामले में सभी धार्मिक समुदायों के क़ानून समान रूप से भेदभावपूर्ण हैं, इसलिए राज्य का दायित्व है कि वह जेण्डर के लिहाज़ से एकसमान क़ानून बनाए। वर्नर मेंस्की जैसे विद्वान तो समान नागरिक संहिता की अवधारणा से ही सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि एक अरब तीस करोड़ लोगों के देश में एक 'सही क़ानून' की

खोज करना ही बेमानी है क्योंकि भारत जैसे विविधताओं से भरे देश में क़ानून की कोई एक संहिता कारगर नहीं हो सकती। मेंस्की के अनुसार समान नागरिक संहिता पर ज़ोर देना इसलिए ग़लत है कि अभी हमें ठीक से यह भी नहीं पता कि बीमारी क्या है। मेंस्की की राय एकबारगी अराजकतावादी लग सकती है, लेकिन अगर इसे उनके दूसरे बयान के आलोक में पढ़ा जाए तो बात बदल जाती है। मेंस्की के मुताबिक़ समान नागरिक संहिता के पैरोकार इस कल्पना में जीते हैं कि राज्य का क़ानून हर चीज़ को नियंत्रित कर सकता है। उनके अनुसार क़ानून की यह परिकल्पना ही ग़लत है क्योंकि वह एक प्रकार की संविदा पर टिकी है और संविदा की स्वतंत्रता हमेशा उन लोगों के पक्ष में झुकी रहती है जो इस संविदा की शर्तें तय करते हैं। उनका यह तर्क भी ग़ौरतलब है कि न्याय कहीं भी एक स्थिर यथार्थ नहीं है, वह एक क्रमिक प्रगति है।

समान नागरिक संहिता की इस बहस में नारीवादी आंदोलन के कुछ हिस्सों, अल्पसंख्यक समुदाय के कुछ प्रतिनिधियों तथा बहुसांस्कृतिकता का आग्रह रखने वाले लोगों का मानना है कि राज्य को समान नागरिक संहिता के बजाय एकसमान क़ानून तैयार करना चाहिए। उनका कहना है कि धार्मिक भिन्नताओं को हिंदू बहुसंख्यकता की छलनी में छान कर समरूप बनाने के बजाय कोशिश यह की जानी चाहिए कि समुदायों के विशिष्ट क़ानूनों को जेण्डरगत पूर्वग्रहों से मुक्त किया जाए। उनकी एक दलील यह भी है कि राज्य को विशेष विवाह अधिनियम, घरेलू हिंसा अधिनियम, किशोरवय के अपराधियों को न्याय दिलाने से संबंधित अधिनियम, आदि जैसे नागरिक विकल्पों में इज़ाफ़ा करना चाहिए, क्योंकि ऐसे क़ानून सभी समुदायों की स्त्रियों पर लागू होते हैं। उनका मानना है कि अगर समान नागरिक संहिता भारतीय समाज के सभी समुदायों के साथ समान व्यवहार नहीं करती और उसके कारण अल्पसंख्यक समुदाय सुरक्षित महसूस नहीं करते तो ऐसा कोई उपाय वांछनीय नहीं हो सकता।

दरअसल, समान नागरिक संहिता के विचार को ज़मीन पर उतारने के लिए भारतीय समाज की रूढ़ियों, मुख़्तलिफ़ रिवाज़ों, विभिन्न समुदायों में क़ानूनी हैसियत रखने वाली परम्पराओं से जिरह करनी होगी। अभी जिस प्रश्न को कुछ लोग केवल राजनीतिक नज़रिये से देख रहे हैं, उन्हें परम्पराओं के रूप में जमे रूढ़िवाद से भी टकराना होगा। विवाह, तलाक़, सम्पत्ति में हिस्सेदारी कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें विभिन्न धार्मिक समुदाय अपनी-अपनी परम्पराओं और सामुदायिक क़ानून के ज़रिये हल करते रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नागरिक संहिता को यह भी सिद्ध करना होगा कि महिला-अधिकारों के मामले में वह सामुदायिक क़ानूनों से ज़्यादा समावेशी और न्यायपूर्ण होगी। महिलाओं के संदर्भ में विवाह, तलाक़ और सम्पत्ति में हिस्सेदारी जैसे सवाल मोटे तौर पर सामुदायिक रीति-नीति के तहत हल किये जाते रहे हैं। इस संदर्भ में यह देखना आवश्यक है कि भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों के क़ानून जेण्डर से संबंधित प्रश्नों का हल किस तरह करते रहे हैं।

धार्मिक-सामुदायिक क़ानून और जेण्डर

हालाँकि विवाह, तलाक़ तथा सम्पत्ति में हिस्सेदारी जैसे मामलों में भारत का प्रत्येक धार्मिक समुदाय अलग-अलग रीतियों का पालन करता है, लेकिन यह एक सीमित तथ्य है क्योंकि समय के साथ राज्य के सेकुलर क़ानूनों का दायरा भी बढ़ता गया है।

हिंदू समुदाय में सम्पत्ति का हस्तांतरण मिताक्षरा जैसी परम्परागत विधि से निर्धारित होता था जिसके अंतर्गत परिवार के मुखिया की सम्पत्ति परिवार के पुरुष उत्तराधिकारी (पुत्र और प्रपौत्र) को हस्तांतरित हो जाती थी और मुखिया की निजी सम्पत्ति का एक भाग पुत्री और पत्नी को दिया जाता था। हिंदू महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सेदारी का अधिकार 1956 के हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम से भी हासिल नहीं हुआ। इस संबंध में एक बड़ा बदलाव 2005 में आया जब विवाहित पुत्रियों को

सम्पत्ति में 'कोपार्सनरी' यानी बराबर की हिस्सेदारी का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार, हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के बावजूद हिंदू समुदाय में विवाह को एक पवित्र संस्था माना जाता है और उसकी सामाजिक वैधता सामुदायिक रीति-रिवाजों से निर्धारित होती है। हिंदू समुदाय में सगोत्रीय या सपिण्ड विवाह स्वीकार नहीं किया जाता।

विवाह अधिनियम के तहत पुरुष दो स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता, परंतु तलाक़ और गुज़ारे-भत्ते का निर्धारण करना एक पेचीदा मामला है। मसलन, कोई भी पक्ष विवाह के पहले साल में तलाक़ की माँग नहीं कर सकता। तलाक़ की अर्जी दाख़िल करने के बाद सुलह-समझौते के लिए छह से डेढ़ वर्ष का समय तय किया गया है। ग़ौरतलब है कि तलाक़ और भरण-पोषण के निर्धारण में पति-पत्नी की असहमति ही नहीं पितृसत्ता की अवधारणा भी अपनी भूमिका अदा करती है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के विरुद्ध तलाक़ की याचिका इस आधार पर भी दायर कर सकता है कि वह उसके माता-पिता के साथ नहीं रहना चाहती। ऐसा व्यवहार क्रूरता की श्रेणी में शामिल किया जाता है।

मेंस्की के मुताबिक़ समान नागरिक संहिता के पैरोकार इस कल्पना में जीते हैं कि राज्य का क़ानून हर चीज़ को नियंत्रित कर सकता है। उनके अनुसार क़ानून की यह परिकल्पना ही ग़लत है क्योंकि वह एक प्रकार की संविदा पर टिकी है और संविदा की स्वतंत्रता हमेशा उन लोगों के पक्ष में झुकी रहती है जो इस संविदा की शर्तें तय करते हैं। उनका यह तर्क भी ग़ौरतलब है कि न्याय कहीं भी एक स्थिर यथार्थ नहीं है, वह एक क्रमिक प्रगति है।

कीर्ति सिंह कहती हैं कि हिंदू उत्तराधिकार क़ानून में क्रमिक प्रगति के बावजूद परित्यक्त, पति से अलग रह रही या तलाक़शुदा महिला के आर्थिक अधिकार बेहद सीमित हैं। विवाह के कई बरस गुज़र जाने के बाद भी स्त्री का वैवाहिक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता। इसका परिणाम यह होता है कि पति से अलग होने या तलाक़ लेने के बाद उसका दाम्पत्य-अवधि में अर्जित की गयी चल-अचल सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। क़ानून की निगाह में उसके आर्थिक और ग़ैर-आर्थिक योगदान— घर की तामीर और बच्चों के लालन-पालन, बुज़ुर्गों की देखभाल करने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अगर किसी स्त्री ने अपने नाम से कोई सम्पत्ति न ख़रीदी हो तो वैवाहिक संबंध भंग होते ही वह सम्पत्तिहीन हो जाती है। महिला-संगठन एक अर्से से इस बात पर ज़ोर देते रहे हैं कि परिवार की सम्पत्ति चाहे पुरुष ने अर्जित की हो या स्त्री ने, उसमें सभी महिलाओं को अधिकार मिलना चाहिए। लेकिन, इस माँग पर न्याय के प्रतिष्ठान की नज़र आज तक नहीं गयी है।

भारत में विभिन्न समुदायों के निजी क़ानूनों के तहत स्त्रियों को केवल यह मोहलत हासिल है कि वे पति से भरण-पोषण की माँग कर सकती हैं। इस मामले में लगभग सभी धार्मिक समुदायों की स्थिति एक जैसी है। घरेलू हिंसा अधिनियम के बाद महिलाएँ आर्थिक राहत और रहवास का दावा भी कर सकती हैं। इसी प्रकार दानियाल लतीफ़ी मामले के बाद मुस्लिम समुदाय की महिलाएँ भी तलाक़ के बाद भरण-पोषण का दावा कर सकती हैं। लेकिन, पीड़ित महिला जब इन अधिकारों की माँग के लिए अदालत पहुँचती हैं तो उनका सामना एक पितृसत्तावादी ढाँचे से होता है। मसलन, अगर कोई स्त्री 'पर्याप्त कारणों' के बिना अपने पति के साथ रहने से इनकार कर देती है तो दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद125 के अंतर्गत न्यायाधीश उसे भरण-पोषण के अधिकार से वंचित कर सकता है।

हिंदू विवाह तथा तलाक़ अधिनियम के तहत पत्नी / पति द्वारा गुज़ारे भत्ते की माँग उनके आचरण पर निर्भर करती है। अगर अदालत किसी पक्ष के आचरण को उपयुक्त नहीं मानती तो उसे गुज़ारे भत्ते

के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। ग़ौरतलब है कि कनाडा जैसे देशों में भरण-पोषण की माँग का पति या पत्नी के आचरण से कोई संबंध नहीं है। इन प्रावधानों से पता चलता है कि स्त्री के प्रति क़ानून भी किस उपयोगितावादी नज़रिये से काम करता है। भरण-पोषण के प्रश्न को स्त्री के आचरण से जोड़ कर देखना यह दर्शाता है कि क़ानून की नज़र में स्त्री के श्रम, आर्थिक योगदान तथा पारिवारिक व्यस्तताओं का कोई ख़ास मूल्य नहीं है। वह यह भी नहीं जानना चाहता कि स्त्रियाँ इन्हीं ज़िम्मेदारियों के कारण आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो पातीं।

इंटरनैशनल डिवेलपमेंट रिसर्च सेंटर द्वारा 2013 में किये गये एक अध्ययन का हवाला देते हुए कीर्ति सिंह बताती हैं कि परित्यक्त और तलाक़शुदा महिलाओं को जीवन-यापन और सुरक्षा के लिए अपने पैतृक घर का सहारा लेना पड़ता है। ग़ौरतलब है कि परित्यक्त या तलाक़शुदा महिलाओं से संबंधित इस अध्ययन में चार सौ महिलाओं से बात की गयी थी। अध्ययन से पता चलता है कि इनमें 63 प्रतिशत महिलाओं को अपने पैतृक घर में शरण लेनी पड़ी। 85 प्रतिशत महिलाओं को अपने अलावा बच्चों का निर्वाह भी करना पड़ रहा था। उल्लेखनीय है कि ये तमाम महिलाएँ पैतृक घरों में पूरा काम निपटाती थीं लेकिन उनकी आर्थिक दशा हमेशा दयनीय रहती थी। इस अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि भारत में क़ानून प्रावधानों का क्रियान्वयन इतना लेट-लतीफ़ और आधा-अधूरा होता है कि परित्यक्त और तलाक़शुदा महिलाएँ स्वतंत्र रूप से जीवन-निर्वाह नहीं कर सकतीं।

लेकिन, इन विसंगतियों के बावजूद कीर्ति सिंह का मानना है कि केवल समान नागरिक संहिता ही जेण्डर-न्याय की गारंटी नहीं कर सकती क्योंकि समान संहिता समान रूप से भेदभाव-भावपूर्ण क़ानूनों का स्रोत भी बन सकती है। उनके मुताबिक़ स्त्रियों के हित में बनाए गये क़ानून तब तक कारगर नहीं हो सकते जब तक कोई सरकार और न्यायपालिका इस एहसास के प्रति संवेदनशील नहीं होती कि स्त्रियों की समस्याएँ आजकल की बात नहीं बल्कि सुदूर इतिहास से चलकर आती हैं।

सम्पत्ति के नज़रिये से देखें तो हिंदू महिला का उस घर की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता जिसमें उसका विवाह होता है। अगर उसे बदचलन साबित कर दिया जाता है अथवा वह कोई और धर्म अपना लेती है तो भरण-पोषण के अधिकार से भी वंचित हो जाती है। दरसअल, स्त्री के प्रति भेदभाव की यह शृंखला कई बार इतनी छितरी हुई होती है कि उसका अंतिम सिरा ढूँढ़ना मुश्किल हो जाता है।

आशा बाजपेयी का मानना है कि कतिपय प्रगतिशील प्रावधानों के बावजूद हिंदू समुदाय में जेण्डरगत न्याय की प्रक्रिया ख़ास मुक़ाम पर नहीं पहुँच पाई है। उनके अनुसार यह प्रक्रिया हिंदू विवाह के विधि-विधानों की विभिन्नताओं के कारण भी बाधित होती हैं। उदाहरण के लिए हिंदू विवाह के संबंध में किसी एक विधि-विधान को मूलभूत विधान मानना बेहद कठिन है। हिंदू विवाह की वैधता सप्तपदी, कन्यादान, होम, स्त्री की माँग में सिंदूर भरने, जयमाला के आदान-प्रदान, पाद-पूजा तथा पाणिग्रहणिका जैसे विभिन्न अनुष्ठानों से तय होती है। इस क्रम में विवाह के उस रूप का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वर की अनुपस्थिति में स्त्री का विवाह तलवार से ही कर दिया जाता है। उल्लेखनीय है कि ऐसे कई अनुष्ठानों के बारे में स्वयं महिलाओं को भी जानकारी नहीं होती। लिहाज़ा कई बार ऐसा भी होता है कि एक स्त्री पुरुष के गले में माला डाल कर और उसके हाथों माला डलवाने, माँग में सिंदूर भरने तथा ईश्वर को साक्षी मान कर यह सोच बैठती है कि अमुक पुरुष से उसका विधिवत् विवाह हो चुका है, जबकि कई बार ऐसे अनुष्ठानों को सिर्फ़ दिखावा माना जाता है और इन अनुष्ठानों पर आधारित विवाह की कोई वैधता ही न होती।

अदालत के सामने ऐसे कई मामले आये हैं जिनमें पुरुषों ने ऐसे अनुष्ठानों का सहारा लेकर दूसरा विवाह कर लिया है और क़ानून को धता बता दिया है। इन अनुष्ठानों की बहुलता के कारण ऐसा भी होता है कि किसी व्यक्ति की पहली पत्नी यह तक सिद्ध नहीं कर पाती है अमुक व्यक्ति के साथ

उसका विवाह पूरी तरह वैध है। और ऐसा व्यक्ति दूसरे अनुष्ठानों का सहारा लेकर किसी दूसरी स्त्री से विवाह कर लेता है। ऐसे में एक पत्नी विवाह (मोनॉगैमी) का पूरा औचित्य ही ख़त्म हो जाता है। ऐसी दुर्घटनाओं को देखते हुए आशा बाजपेयी का यह तर्क काफ़ी सशक्त लगता है कि हिंदू विवाह की रीति को कोई सर्वमान्य एकल रूप दिया जाना चाहिए।

हिंदू वैवाहिक रीति में एक आपत्तिजनक प्रावधान दाम्पत्य संबंधों की बहाली का भी है। यह एक ऐसा प्रावधान है जो जीवन, निजता तथा समानता के बुनियादी अधिकार का उल्लंघन करता है। इस प्रावधान के तहत जब कोई याचिकाकर्ता अपनी पत्नी से शारीरिक संबंध स्थापित करने की माँग करता है तो उसकी यह हरकत उनके संबंधों का तनाव दूर करने के बजाय इन संबंधों को और विषाक्त कर देती है।

सम्पत्ति के हस्तांतरण से संबंधित अधिनियम में संशोधन के बावजूद स्थिति यह है कि विवाहित स्त्री की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर उसके पति के संबंधियों का अधिकार ही प्रमुख माना जाता है, जबकि पुरुष के मामले में उसके संबंधी ही सम्पत्ति के निर्विवाद उत्तराधिकारी माने जाते हैं। इस प्रसंग में विधि आयोग की एक सौ चौहत्तरवीं रिपोर्ट में दर्ज यह टिप्पणी विशेष ध्यान खींचती है कि निस्संतान स्त्री की सम्पत्ति का हस्तांतरण पितृसत्तात्मक दुराग्रहों से ग्रस्त है। कई राज्यों में खेती की ज़मीन पर केवल पुत्रों का अधिकार ही माना जाता है। इसी तरह भरण-पोषण के मुद्दे को अमूमन अधिकार के बजाय दया के रूप में देखा जाता है और उस पर भी कई प्रकार की बंदिशें आयद रहती हैं। मसलन, भरण-पोषण की माँग के संदर्भ में अक्सर स्त्री के चरित्र को एक अड़ंगे की तरह लगाया जाता है। और भरण-पोषण की राशि का निर्धारण न्यायाधीश के विवेक पर छोड़ दिया जाता है। हिंदू वैवाहिक रीति में इस बात को तलाक़ का आधार स्वीकार नहीं किया जाता कि पति-पत्नी के आपसी संबंध इतने बिगड़ चुके हैं कि उन्हें सामान्य ढर्रे पर नहीं लाया जा सकता।

विधि आयोग 1978 तथा 2009 में दो बार इस तरफ़ ध्यान आकर्षित कर चुका है कि अगर पति-पत्नी अपने संबंधों का तनाव दूर नहीं कर पाते तो ऐसे मामलों में तलाक़ की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए। लेकिन, यह मसला अभी विचाराधीन है। समग्रत: हिंदू विधि-विधानों में कुछ संशोधनों तथा उनके संहिताकरण के बावजूद स्त्रियों को कई तरह के संरचनात्मक भेदभावों से संघर्ष करना पड़ता है। लिहाज़ा स्त्रियों को अधिकार और जेण्डरगत न्याय से लैस करने वाली किसी भी नागरिक संहिता का स्वागत किया जाना चाहिए। यह कहना ग़लत न होगा कि स्त्रियों को संरचनात्मक भेदभाव, पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रहों तथा अनुचित रीतियों से बचाने का काम समान नागरिक संहिता ही कर सकती है।

जेण्डर-न्याय : वैश्विक अनुभव

गहराई से देखें तो समान नागरिकता का प्रश्न अंतत: जेण्डरगत न्याय का प्रश्न है। समान नागरिक संहिता के वैश्विक उदाहरणों का विश्लेषण करते हुए राजनीतिक सिद्धांतकार प्रोफ़ेसर गुरप्रीत महाजन बताती हैं कि इसका मार्ग पहले से तय नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार ज़्यादा व्यावहारिक रास्ता यह है कि हम बाक़ी दुनिया पर नज़र दौड़ाएँ और यह देखें कि दुनिया के विभिन्न देशों में जेण्डर-न्याय का यह संघर्ष किन तरीक़ों से आगे बढ़ा है।

फ्रांस जैसे युरोपीय देशों की तरफ़ देखें तो वहाँ स्त्री-समानता की मुहिम क़ानूनी उपायों से आगे बढ़ी है। मसलन, फ्रांस में नेपोलियन के काल से ही एक समान संहिता मौजूद रही थी, लेकिन इस संहिता का स्त्रियों की समानता से कुछ लेना देना नहीं था। संहिता के अनुसार पत्नी के लिए पति का आदेश शिरोधार्य होता था; सम्पत्ति पर केवल पुरुषों का ही अधिकार माना जाता था और स्त्रियों को वित्तीय लेन-देन करने की मनाही थी। इंग्लैण्ड, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे देशों में स्त्रियों की स्थिति में कुछ ऐतिहासिक फ़ैसलों और क़ानून के ज़रिये सुधार आया है। ग़ौरतलब है कि इन देशों

में स्त्री की समानता का प्रश्न किसी एक क़ानून के ज़रिये हल नहीं किया गया। यह एक क्रमिक प्रक्रिया थी। फ्रांस में विवाहित महिलाओं को क़ानूनी–नागरिक व्यक्तित्व पहली बार 1938 में हासिल हुआ।

इसके बाद 1942 तथा 1965 के अधिनियमों से विवाहित महिलाओं की समानता में कुछ और इज़ाफ़ा हुआ। लेकिन इन नियमों से गर्भपात तथा आपसी सहमति से तलाक़ लेने जैसे मुद्दे हल नहीं किये जा सके। इस तरह स्त्री– समानता की मुहिम नारीवादी संघर्षों और उदारतावादी नेतृत्व के ज़रिये आगे बढ़ी है। पश्चिम के उन लोकतांत्रिक देशों में जहाँ धार्मिक समरूपता ज़्यादा सघन थी, वहाँ बदलाव की प्रक्रिया राज्य की तरफ़ से शुरू हुई। इस प्रक्रिया में सेकुलर और लोकतांत्रिक शक्तियों की भूमिका द्वितीयक रही थी।

पश्चिमी देशों के उदाहरणों से एक बात यह भी साबित होती है कि समान नागरिक संहिता कोई शाश्वत या स्थिर संहिता नहीं होती। वह मूलत: न्याय की एक सर्वसमावेशी दृष्टि है जिसमें परिस्थितियों के अनुसार बदलाव करने की गुंजाइश होनी चाहिए। मसलन, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब फ्रांस में अल्जीरिया, मोरक्को और ट्यूनीशिया जैसे अफ्रीकी देशों से आप्रवासी आने लगे तो वहाँ नागरिक संहिता की अवधारणा ही संकटग्रस्त हो गयी। फ्रांस में केवल एकल विवाह ही मान्य था, लेकिन आप्रवासी ऐसे देशों से आये थे जहाँ एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। ऐसे में समान नागरिक संहिता के सामने यह नैतिक संकट खड़ा हो गया कि अगर उसे हूबहू लागू किया गया तो यह क़दम आप्रवासी के रूप में आये व्यक्ति की दूसरी, तीसरी या चौथी पत्नी और उनके बच्चों के साथ अन्याय होगा।

अंतत: इसका हल यह निकाला गया कि इस प्रकार के विवाहों को आंशिक मान्यता प्रदान की गयी। आंशिक मान्यता की इस व्यवस्था में आप्रवासी व्यक्ति की अन्य पत्नियों को आप्रवासी का दर्जा तो दे दिया गया परंतु उन्हें कल्याणकारी योजनाओं का लाभ नहीं दिया गया। इसी तरह, इंग्लैण्ड में ऐसी महिलाओं को आय, रोज़गार तथा आवास आदि की सुविधाएँ प्रदान की गयीं। इज़रायल में वैवाहिक क़ानून धार्मिक प्राधिकार के अंतर्गत आते हैं, लेकिन इसके समानांतर न्याय की एक बहुस्तरीय व्यवस्था भी काम करती है। अगर कोई महिला यह महसूस करती है कि समुदाय ने उसके साथ न्याय नहीं किया है तो वह विवाह तथा तलाक़ के मामलों में अदालत की शरण ले सकती है।

इस तरह देखा जाए तो जेण्डर–समानता का मुद्दा पूरी तरह हल नहीं हो पाया है। फिर भी, पश्चिमी देशों का अनुभव सामने रखकर तीन बातें कही जा सकती हैं। एक, जेण्डर–समानता का मुद्दा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समान व्यवहार से गहरे जुड़ा है यानी स्वतंत्रता और समान व्यवहार के लिए जेण्डर की समानता एक पूर्व शर्त है। दूसरे, जेण्डर–समानता की मुहिम में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। राज्य इस मामले में इसीलिए सार्थक भूमिका निभा सका क्योंकि सेकुलरीकरण की प्रक्रिया के कारण चर्च का प्रभाव क्षीण हो गया था। इस परिघटना के बिना राज्य क़ानून का एकमात्र स्रोत नहीं बन सकता था। अगर राज्य इन अवसरों का इस्तेमाल करने की स्थिति में नहीं होता तो वह विवाह व परिवार के मामलों में धार्मिक प्राधिकारों को चुनौती नहीं दे पाता।

तीसरे, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में समुदाय और धार्मिक समूहों का प्रभाव निरंतर प्रबल होता गया है। गर्भपात या ग़ैर–पारम्परिक परिवार आदि जैसे मसलों में केवल क़ानून की ताक़त निर्णायक नहीं रह गयी है। मसलन, राज्य बहुविवाह की प्रथा को ग़ैर–क़ानूनी घोषित कर देता है परंतु समाज में उसका अस्तित्व बना रह सकता है। इसी तरह, राज्य का न्यायिक ढाँचा किसी विवाद में तलाक़ की अनुमति प्रदान कर देता है परंतु समुदाय इस निर्णय को स्वीकार नहीं करता और वह संबंधित पक्ष द्वारा उस समुदाय में दुबारा विवाह करने का विकल्प ख़त्म कर देता है। इस तरह, ज़ाहिर है कि अब समुदाय की अनदेखी नहीं की जा सकती। ऐसे में राज्य समुदाय की सत्ता–संरचना में होने वाले बदलावों को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता। एक सूत्र में कहा जाए तो अब जेण्डर की समानता किसी

एक एजेंसी द्वारा सुनिश्चित नहीं की जा सकती। इस मुहिम में राज्य या समुदाय— किसी को भी पूरी तरह दरकिनार नहीं किया जा सकता।

भारतीय संदर्भ : नागरिक संहिता में जेण्डर-न्याय

भारत में समान नागरिक संहिता के ज़रिये जेण्डर की समानता का प्रश्न किस तरह हल किया जाएगा? क्या महिलाओं के साथ होने वाला समस्त अन्याय केवल वैवाहिक रीतियों की विसंगतियों से ही उपजता है? प्रोफ़ेसर बीना अग्रवाल का मानना है कि जेण्डरगत न्याय के प्रश्न की बहस अभी तक मुख्यत: वैवाहिक संबंधों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। जबकि उसे उत्तराधिकार की संरचनाओं पर ज़्यादा ध्यान देना चाहिए। ग़ौरतलब है कि भारत में लाखों स्त्रियों का जीवन खेती पर निर्भर करता है, जबकि अचल सम्पत्ति के उत्तराधिकार में महिलाएँ भीषण भेदभाव की शिकार हैं। यह भेदभाव व्यवहार और क़ानून, दोनों स्तरों पर व्याप्त है। इसलिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उत्तराधिकार के क़ानून को एक निश्चित रूप कैसे दिया जाए। इसके बिना जेण्डर-समानता की बात नहीं की जा सकती। दरअसल, यही वह चाभी है जो भारत के सभी समुदायों की महिलाओं के लिए एक बेहतर और गरिमापूर्ण जीवन का द्वार खोलती है।

हिंदू, मुसलमान, ईसाई और पारसियों में महिलाओं के उत्तराधिकार विषयक प्रावधान एक दूसरे से ख़ासे अलग हैं। ... भिन्नताओं के ऐसे उदाहरण इतने व्यापक हैं कि उनके आधार पर कोई समान क़ानून नहीं बनाया जा सकता। इसका एक सम्भव विकल्प यही है कि इन भिन्नताओं से परे जाकर तथा जेण्डर समानता के संवैधानिक सिद्धांतों पर आधारित एक ऐसा स्वतंत्र और सेकुलर क़ानून बनाया जाए जो उत्तराधिकार के मौजूदा क़ानूनों से ऊपर हो।

उत्तराधिकार क़ानून में आख़िरी बड़ा संशोधन 2005 में किया गया था। इस संशोधन के अंतर्गत हिंदू महिलाओं को परिवार की संयुक्त सम्पत्ति में पहली बार कोपार्सनरी का दर्जा दिया गया और उन्हें खेतिहर ज़मीन में हिस्सेदार माना गया।

जेण्डर-समानता और न्याय की दृष्टि से यह एक ज़रूरी बदलाव था। लेकिन मुस्लिम और आदिवासी महिलाओं के संबंध में ऐसी कोई मुहिम शुरू नहीं की गयी। मुस्लिम समुदाय में खेतिहर ज़मीन को छोड़कर सम्पत्ति के बाक़ी सवाल आज भी शरीयत अधिनियम, 1937 के तहत आते हैं। इस मामले में किसी इलाक़े या समूह की स्थानीय मान्यता या रीति शरीयत के आगे कोई अहमियत नहीं रखती। इससे पहले अधिकांश हिंदुओं की तरह मुस्लिम समुदाय का जीवन स्थानीय रीतियों के अनुसार चलता था। इनमें कुछ मान्यताएँ शरीयत से मेल खाती थीं तो कुछ स्वतंत्र रूप से काम करती थीं। लेकिन शरीयत अधिनियम के बाद यह स्थिति पूरी तरह बदल गयी। इससे महिलाओं— विशेषकर बेटी और विधवा महिलाओं को ज़रूर राहत मिली क्योंकि अधिनियम में उन्हें पारिवारिक सम्पत्ति में थोड़ा लेकिन निश्चित हिस्सा दे दिया गया था। लेकिन, खेती की ज़मीन को शरीयत के न्यायाधिकार से बाहर रखने के कारण जेण्डर असमानता का एक मुख्य स्रोत अपनी जगह बरक़रार रहा।

बाद में, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश तथा केरल जैसे राज्यों ने इस नियम में संशोधन करते हुए खेती की ज़मीन को भी सम्पत्ति के अन्य रूपों में शामिल कर लिया, परंतु अन्य राज्यों में मुस्लिम महिलाएँ अभी तक खेतिहर ज़मीन में हिस्सेदार नहीं मानी जातीं। 2005 में बीना अग्रवाल ने प्रधानमंत्री को एक याचिका भेजी जिस पर चार सौ पैंसठ लोगों और छियालिस संस्थाओं से संबंधित मुस्लिम महिलाओं, कार्यकर्ताओं तथा समूहों के हस्ताक्षर थे। याचिका में माँग की गयी थी कि 1937 के शरीयत अधिनियम में खेती की ज़मीन से जुड़ा प्रावधान ख़त्म किया जाए। इस मुहिम में मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड भी

शामिल था। लेकिन इस पर विधि आयोग का जवाब यह आया कि केंद्र सरकार किसी समुदाय के निजी क़ानूनों में तब तक दख़ल नहीं दे सकती जब तक ऐसे प्रस्ताव को उस समुदाय के एक बड़े तबक़े का समर्थन हासिल न हो। अचरज की बात ये थी कि केंद्र सरकार ने इस याचिका से कुल पाँच महीने पहले एक ऐसी ही याचिका के आधार पर हिंदू उत्तराधिकार क़ानून में ठीक ऐसा ही संशोधन किया था। यह एक ऐसा सुधार है जिसे लागू करने में ख़ास अड़चन इसलिए भी नहीं आएगी क्योंकि देश के दक्षिणी राज्यों में इसकी नज़ीर पहले से मौजूद है।

उत्तराधिकार के नियमों की दृष्टि से आदिवासी महिलाएँ भी इसी प्रकार के भेदभाव की शिकार हैं। बीना अग्रवाल का कहना है कि अगर आदिवासी समुदाय ईसाई तथा पारसी समुदायों की भाँति भारत के उत्तराधिकार अधिनियम को स्वीकार कर लें तो उनके लिए यह एक अग्रगामी क़दम होगा। लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है: क्या उत्तराधिकार के संदर्भ में कोई सर्वसामान्य क़ानून नहीं बनाया जा सकता? क्या विभिन्न समुदायों के निजी क़ानूनों से ऊपर उठकर एक सर्वसुलभ क़ानून बनाना सम्भव है? भारत के प्रमुख धार्मिक समुदायों—हिंदू, मुसलमान, ईसाई और पारसियों में महिलाओं के उत्तराधिकार विषयक प्रावधान एक दूसरे से ख़ासे अलग हैं। मसलन, हिंदू क़ानून के तहत परिवार की संयुक्त सम्पत्ति में महिलाओं को कोपार्सनरी बना दिया गया है। ऐसी मिसाल दूसरे किसी भी धार्मिक समुदाय में नहीं मिलती।

लेकिन, यह क़ानून सभी राज्यों में एकसमान नहीं है। उदाहरण के लिए, केरल में संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति का प्रावधान 1976 में समाप्त कर दिया गया था जबकि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम में यह प्रावधान अभी तक मौजूद है। इसी प्रकार हिंदू समुदाय के मातृसत्तात्मक परिवारों में उत्तराधिकार के नियमों का स्वरूप कुछ अलग तरह का है। शरीयत में पुरुष और महिला के लिए उत्तराधिकार के नियम अलग-अलग हैं। आमतौर पर मुस्लिम समुदाय में महिला को पारिवारिक सम्पत्ति में पुरुष के मुक़ाबले कम हिस्सा दिया जाता है और उसकी यह हिस्सेदारी भी सम्पत्ति के अन्य उत्तराधिकारों की मौजूदगी या ग़ैर-मौजूदगी पर निर्भर करती है। समुदायों के निजी क़ानूनों में वसीयत का मुद्दा भी अलग-अलग ढंग से हल किया जाता है। इस मामले में हिंदू, ईसाई और पारसी समुदाय में कोई प्रतिबंध पहले से तय नहीं है, परंतु मुस्लिम क़ानून में यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति के केवल एक तिहाई हिस्से का ही वसीयतनामा किया जा सकता है। इस मामले में सुन्नी और शिया सम्प्रदायों की मान्यताएँ एक दूसरे से काफ़ी अलग हैं।

भिन्नताओं के ऐसे उदाहरण इतने व्यापक हैं कि उनके आधार पर कोई समान क़ानून नहीं बनाया जा सकता। इसका एक सम्भव विकल्प यही है कि इन भिन्नताओं से परे जाकर तथा जेण्डर समानता के संवैधानिक सिद्धांतों पर आधारित एक ऐसा स्वतंत्र और सेकुलर क़ानून बनाया जाए जो उत्तराधिकार के मौजूदा क़ानूनों से ऊपर हो।

मुस्लिम समुदाय : जड़ता का ढाँचा बनाम बदलाव के आग्रह

मुस्लिम समुदाय में विवाह एक दीवानी संविदा माना जाता है जिसमें महिला और पुरुष के कर्तव्य और अधिकारों का एक सीमा तक स्पष्ट निरूपण किया गया है। विवाह के समय या बाद में महिला का पति उसे मेहर की रक़म प्रदान करता है। यह रक़म उसकी निजी सम्पत्ति मानी जाती है। विवाह की रस्म दो बालिग गवाहों की उपस्थिति में सम्पन्न होता है जिनमें कम से कम एक गवाह अनिवार्य रूप से पुरुष होना चाहिए। समुदाय में बहुपत्नी-प्रथा वैध मानी जाती है। क़ुरान के मुताबिक़ पति दाम्पत्य संबंधों में मेल-मिलाप के चार प्रयास करने के बाद ही तलाक़ की घोषणा कर सकता है। तलाक़ की प्रक्रिया पूरी होने तक उसे तीन महीने का इंतज़ार करना (इद्दत) होता है।

इस मामले में पुरुष और महिला की स्थिति असमान है : जहाँ पुरुष तलाक़ देने का एकतरफ़ा

अधिकार रखता है, वहीं महिला कुछ निश्चित आधारों और स्थितियों के अनुसार ही तलाक़ की कार्रवाई शुरू कर सकती है। अक्सर ऐसा होता है कि जब महिला अपने पति से तलाक़ लेने की कार्रवाई शुरू करती है तो पति उसे महर से वंचित करने का बहाना बना लेता है। मुस्लिम वुमॅन (प्रोटेक्शन ऑफ़ राइट्स ऑन डिवोर्स) एक्ट तथा दानियाल लतीफ़ी जैसे मामलों के बाद अदालतों ने साफ़ कर दिया है कि पुरुष को इद्दत की अवधि के दौरान ही भरण-पोषण की व्यवस्था करनी होगी। लेकिन हलाला प्रथा के मुताबिक़ तलाक़शुदा महिला को अपने पूर्व पति से दुबारा विवाह करने के लिए किसी अन्य पुरुष से पहले वैवाहिक और शारीरिक संबंध स्थापित करना और फिर उससे तलाक़ लेना पड़ता है।

ईसाई या पारसी समुदायों की तरह मुस्लिम समुदाय में भी बच्चों को गोद लेने या अभिभावकत्व संबंधी नियम स्पष्ट नहीं हैं। ऐसे मामलों में तीनों समुदाय गार्जियंस ऐंड वार्ड्स अधिनियम, 1890 का सहारा लेते रहे हैं। तीनों समुदाय के लोग बच्चा गोद ले सकते हैं परंतु वयस्क होने पर बच्चा गोद लेने वाले माता-पिता से संबंध ख़त्म कर सकता है। मुस्लिम समुदाय में माँ को बच्चे का स्वाभाविक अभिभावक नहीं माना जाता।

ईसाई समुदाय में वैवाहिक संबंध इण्डियन क्रिश्चियन मैरिज एक्ट, 1972 के अनुसार सम्पन्न होता है, लेकिन त्रावणकोर-कोचीन क्षेत्र तथा मणिपुर एवं जम्मू-कश्मीर में यह अधिनियम लागू नहीं होता। जहाँ तक तलाक़ और भरण-पोषण की व्यवस्था का संबंध है तो समुदाय में तलाक़ संबंधी नियम पुरुषों के पक्ष में झुके हुए थे, लेकिन 2001 में इन विसंगतियों को दूर कर दिया गया। ईसाई समुदाय में सम्पत्ति का हस्तांतरण और उत्तराधिकार के मामले भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के अनुसार निर्धारित होते हैं। अधिनियम के मुताबिक़ समस्त सम्पत्ति में एक तिहाई भाग पत्नी के लिए मुक़र्रर करने के बाद बाक़ी सम्पत्ति बच्चों में बराबर बाँट दी जाती है। लेकिन सम्पत्ति के बँटवारे में पिता की इच्छा दस्तावेज़ी महत्त्व रखती है जिसका तात्पर्य यह है कि अगर कोई पिता चाहे तो वह अपनी सम्पत्ति से बेटियों को वंचित करते हुए पूरी सम्पत्ति बेटों के पक्ष में कर सकता है।

अपनी समस्त व्यावसायिक आधुनिकता के बावजूद पारसी समुदाय में स्त्री की हैसियत काफ़ी कमज़ोर है। उदाहरण के लिए, पारसी समुदाय के पुरुष से विवाह करने वाली ग़ैर-पारसी महिला को सम्पत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता। इसी तरह अगर पारसी महिला अपने समुदाय से बाहर विवाह करती है तो उसके बच्चों को पारसी नहीं माना जाता।

समुदाय में वैवाहिक और तलाक़ संबंधी नियम पारसी मैरिज ऐंड डिवोर्स एक्ट, 1936 के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। इस अधिनियम में आख़िरी संशोधन 1988 में किया गया था। पारसी समुदाय में विवाह को एक आध्यात्मिक संबंध माना जाता है। तलाक़ का दावा विवाह के दो साल बाद ही दायर किया जा सकता है। पारस्परिक सहमति और संबंधों की अपूरणीय क्षति जैसे प्रावधानों की अनुपस्थिति के कारण इस समुदाय में तलाक़ की प्रक्रिया बेहद जटिल है। पारसी समुदाय बच्चा गोद लेने जैसी किसी रिवायत को मान्यता प्रदान नहीं करता।

उपरोक्त उदाहरणों से ज़ाहिर हो जाता है कि भारत का हर धार्मिक समुदाय विवाह, तलाक़ और उत्तराधिकार जैसे मसलों का हल अपनी-अपनी रूढ़ियों और परम्पराओं के अनुसार करता है। सामुदायिक क़ानूनों की इस विविधता के स्थान पर एकल नागरिक संहिता स्थापित करना एक जटिल और चुनौतीपूर्ण काम है। यह एक ऐसा सरोकार है जो संबंधित पक्षों से गहरी ईमानदारी और वचनबद्धता की माँग करता है। जैसा कि हमने पीछे कहा, सामुदायिक आग्रहों के बीच सहमति की ज़मीन खोजने का यह काम गहरे धैर्य, अंतर-सामुदायिक संवाद तथा राज्य के स्तर पर स्पष्ट सोच की माँग करता है।

मुस्लिम समुदाय में समान नागरिक संहिता से संबंधित आशंकाओं की पड़ताल करते हुए पूर्व केंद्रीय मंत्री आरिफ़ मुहम्मद ख़ान यह कहते हैं कि किसी समुदाय के सदस्यों के निजी जीवन से जुड़े

ऐसे क़ानून रूढ़ियों और रस्मों की एक ऐसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जिसे राज्य एक मान्य व्यवहार की तरह देखता है। लेकिन अगर समुदाय से संबंधित कोई विवाद अदालत के दायरे में पहुँच जाता है तो उसका समाधान संविधान में परिकल्पित दीवानी संहिता के अनुसार किया जाना चाहिए। उनके मुताबिक़ ऐसे क़ानून में यह आश्वस्ति निहित है कि वह धर्म, जाति, जेण्डर अथवा लैंगिक आधार पर किसी के साथ भेदभाव नहीं करेगा। ऐसा क़ानून व्यक्ति को न केवल धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है बल्कि समान नागरिक संहिता के संवैधानिक उद्देश्य को भी पूरा करता है। आरिफ़ मुहम्मद ख़ान की यह टिप्पणी दरअसल मुस्लिम न्याय-चिंतन की उस जटिल पृष्ठभूमि से निकली है जिसके तहत उलेमा इस नुक़्ते से दायें-बायें होने का नाम ही नहीं लेते कि सेकुलर राज-व्यवस्था की न्यायपालिका का ग़ैर-मुस्लिम न्यायाधीश इसलामी क़ानून का क्रियान्वयन नहीं कर सकता क्योंकि शरीयत के अनुसार केवल इसलाम में यक़ीन रखने वाला व्यक्ति ही इस क़ानून का परिचालन कर सकता है।

इस संदर्भ में भारतीय मुस्लिम महिला आंदोलन की सूत्रधार नूरजहाँ सफ़िया नियाज़ तथा ज़किया सोमन की यह दलील ग़ौरतलब है: अक्सर यह दावा किया जाता है कि भारत के मुसलमान शरीयत से निर्देशित होते हैं। लेकिन देश के विभिन्न हिस्सों में शरीयत को जिस तरह लागू किया जाता है उसका कोई लिखित या परिभाषित रूप नहीं है। लोगबाग उसका अपने अपने ढंग से पाठ-कुपाठ करते हैं। अक्सर शरीयत की ऐसी कई व्याख्याएँ महिलाओं के प्रति अन्यायपूर्ण होती हैं यानी शरीयत के नाम पर पवित्र क़ुरान के निर्देशों का उल्लंघन ज़्यादा किया जाता है। तीन तलाक़ की प्रथा इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। विवाह की उम्र, महर, तलाक़, गुज़ारा भत्ता, बच्चे की देखभाल तथा सम्पत्ति जैसे अहम मामलों में होने वाले अन्याय को शरीयत के आवरण में लपेट दिया जाता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि साधारण मुसलमान पवित्र क़ुरआन की भावना और उसके जेण्डरगत न्याय से संबंधित बुनियादी उसूलों को किस हद तक समझते हैं। इस बात का अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं है कि देश में शरीयत के अनुसार न्याय करने वाले पुरुष इन मसलों को किस नज़रिये से देखते हैं। आमतौर पर घरेलू विवादों में अंतिम फ़ैसला पुरुषों के पक्ष और महिलाओं के ख़िलाफ़ जाता है। शरीयत की इस कार्य-प्रणाली को क़ुरआन की देन या उससे प्रेरित तो क़तई नहीं कहा जा सकता।

नियाज़ और ज़किया सोमन की दलील इस नुक़्ते पर टिकी है कि जिस तरह ईसाई और पारसी जैसे अल्पसंख्यक समुदायों के क़ानूनों की एक लिखित संहिता तैयार की गयी है, उसी तरह मुस्लिम समुदाय के क़ानून भी स्पष्ट रूप से संहिताबद्ध किये जाने चाहिए। उनका कहना है कि जहाँ समय के साथ इन ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक समुदायों के क़ानूनों में सुधार करके उन्हें जेण्डर के प्रति संवेदनशील बनाया गया है, वहीं कुछ ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मुस्लिम पारिवारिक क़ानून आज तक संहिताबद्ध नहीं किया जा सका है। इस मामले में सुधार की पहली कोशिश 1937 में की गयी जब शरीयत एप्लीकेशन एक्ट पारित किया गया। 1939 में मुस्लिम वैवाहिक संबंध-विच्छेद का अधिनियम पारित हुआ। लेकिन इसके बाद मुस्लिम महिलाओं को तलाक़ की स्थिति में संरक्षण प्रदान करने वाला अधिनियम 1986 में जाकर पारित हुआ। आठ दशकों की इस अवधि में केवल इन्हीं तीन बदलावों का ज़िक्र किया जा सकता है। जबकि स्थिति यह है कि तलाक़, विवाह की उम्र, बहुपत्नी-प्रथा, बच्चों के संरक्षण, उत्तराधिकार तथा महर आदि जैसे मसलों के बारे में कोई लिखित क़ानून नहीं है।

समान नागरिक संहिता का मुद्दा केवल मुस्लिम महिलाओं के संदर्भ में ही क्यों उठाया जाता है? नियाज़ और ज़किया सोमन का यह सवाल उन पूर्वाग्रहों से टकराता है जो जनमानस में सामान्य-बोध की तरह पैठ गये हैं। क्या यह संहिता सिर्फ़ मुसलमानों पर ही लागू होगी? क्या बहुसंख्यक हिंदू और बाक़ी अल्पसंख्यक समुदायों ने इस मामले में अपनी संस्तुति प्रदान कर दी है? आख़िर क्या वजह है कि इतने दशकों से चली आ रही बहस के बावजूद हमारे पास समान नागरिक संहिता की कोई स्पष्ट

रूपरेखा नहीं है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह महज़ एक शिगूफ़ा है जिसका फ़ायदा अंतत: रूढ़िवादी ताक़तों को ही मिलता है। इस दौरान स्पेशल मैरिज एक्ट जैसे नागरिक क़ानून को मज़बूत और लोकप्रिय बनाने का काम किया जा सकता था। लेकिन वह भी नहीं किया गया। दोनों लेखिकाओं की समझ साफ़ है कि नागरिक संहिता के मुद्दे को केवल मुस्लिम संदर्भ में रखकर देखना इस विचार को पराजित करने जैसा है क्योंकि समान नागरिक संहिता का विचार धर्म से कोई वास्ता नहीं रखता।

संदर्भ

अमूल्य गोपालकृष्णन (2017), 'व्हाय इण्डिया नीड्स अ सेकुलर कोड', *टाइम्स न्यूज़ नेटवर्क,* 4 सितम्बर.

आरिफ़ मोहम्मद ख़ान (2017), 'व्हैन द कांस्टीट्यूशन ऐंड रिलीजस लॉज़ कोलाइड', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 10 सितम्बर.

आशा बाजपेयी (2017), 'हाउ हिंदू पर्सनल लॉ कैन बी रिफ़ॉर्म्ड', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 18 सितम्बर.

कीर्ति सिंह (2017), 'व्हाय वी नीड अ फ़ेयर लॉ ऑन मैरिटल प्रॉपर्टी', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 25 सितम्बर.

क्रिस्तॉफ़ जैफ़्रलॉ (2003), 'आम्बेडकर ऐंड द यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड', *आउटलुक,* 14 अगस्त.

गीता लूथरा (2017), 'हाउ कस्टडी ऐंड गार्जियनशिप ऑलरेडी फ़ॉलो कॉमन प्रिंसिपल्स', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 25 सितम्बर.

गुरप्रीत महाजन (2017), 'व्हाय द वैस्ट ऑफ़र्स नो मॉडल्स फ़ॉर अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 15 सितम्बर.

चंद्रा मल्लमपल्ली (2017), 'हाउ क्रिश्चियन पर्सनल लॉज़ हैव ग्रैपल्ड विद इक्वैलिटी', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 25 सितम्बर.

नूरजहाँ सफ़िया और ज़क़िया सोमाण (2017), लॉज़ फ़ॉर वुमॅन, नॉट फ़ॉर मुस्लिम्स', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 9 सितम्बर.

प्रदीप ठाकुर (2017), 'विल गवर्नमेंट मूव फ़ॉर अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड', *टाइम्स न्यूज़ नेटवर्क,* 23 अगस्त.

पार्थ एस. घोष (2017), 'व्हाय नोबडी इज़ सिंसयर अबाउट यूसीसी', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 13 सितम्बर.

फ़ैज़ान मुस्तफ़ा (2017), 'आर वी रिअली प्रिपेअर्ड फ़ॉर अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड ?', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 12 सितम्बर.

बीना अग्रवाल (2017), 'कैन वी युनिफ़ाई इनहेरिटेंस लॉ ?', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 19 सितम्बर.

रतन शारदा (2017), 'टू सेकुलरिज़म डिमांड्स अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 11 सितम्बर.

रपट : 'व्हाय इण्डिया डज़ंट हैव अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड', *टाइम्स न्यूज़ नेटवर्क,* 24 अगस्त.

रपट : 'सेकुलर सिविल कोड : डिवाइडिड वी स्टैंड', *टाइम्स न्यूज़ नेटवर्क,* 4 सितम्बर.

रोहित डे (2017), 'नो, द यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड वाज़ नॉट डिटर्ड जस्ट फ़ॉर मुस्लिम्स', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 30 सितम्बर.

वर्नर मेंस्की (2017), यूसीसी : डोन्ट लुक टू द वैस्ट, इण्डिया हैज़ इवॉल्व्ड इट्स ऑन वे',*द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 14 सितम्बर.

वैभव पुरंदरे (2017), 'वन नेशन वन कोड : हाउ आम्बेडकर ऐंड अदर्स पुश्ड फ़ॉर अ यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड बिफ़ोर पार्टीशन', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 5 सितम्बर.

.............(2017), 'हाउ द क्लॉज़ ऑन अ यूनिफ़ॉर्म सिविल वाज़ रेंडर्ड टूथलैस', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 6 सितम्बर.

.............(2017), 'हाउ मुस्लिम फ़ीयर्स वर अलेड, ऐंड यूसीसी बिकेम अ डायरेक्टिव प्रिंसिपल', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 8 सितम्बर.

होमियार नरीमन वकील (2017), 'व्हाय पारसीज़ नीड देयर ऑन लॉज़', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 20 सितम्बर.

मानव-अर्जित प्रकृति-सापेक्ष स्वतंत्रता स्त्रियों, उत्पादक श्रम से जुड़े जनों, जातियों और वर्गों अर्थात् बहुसंख्या की परतंत्रता पर आधारित थी। अपने स्वरूप में परिवर्तन के बावजूद, इस बहुसंख्या की परतंत्रता का यह सिलसिला आज तक जारी है। इस परतंत्रता से मुक्ति न्याय है, और चूँकि इस परतंत्रता के कई आयाम हैं, इसीलिए न्याय का प्रश्न भी मानव इतिहास में अनेक आयामों में उपस्थित होता रहा है। समग्र रूप से देखें तो परतंत्रता के कारण भी अब तक मानव-मस्तिष्क का अस्तित्व खण्डित रहा है। साथ ही उसकी मस्तिष्क-क्रिया अथवा सामूहिक ज्ञान-क्रिया या कार्य-सक्रियता भी सीमित, कुंठित और बाधित रही है। न्याय का अर्थ है खण्डित, सीमित, कुंठित और बाधित स्थिति से मस्तिष्क की, ज्ञान की मुक्ति ताकि वह अपनी सारी सम्भावनाएँ तथा क्षमताएँ साकार कर सके। ज्ञान की मुक्ति न्याय में है और अगर ज्ञान न्याय के साथ प्रस्थान नहीं करता तो खण्डित और बाधित ज्ञान की विद्रूपताओं और विभीषिकाओं से मानव-जाति मुक्त नहीं हो सकती। इसीलिए ज्ञान की पहली चुनौती न्याय की स्थापना है, और उसका प्रस्थान-बिंदु न्याय का विवेक है।